* श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित *

द्रव्य-संग्रह

(आदर्श - टीका - सहित)

अनुवादक

मोहनलाल जैन काव्यतीर्थ,

जवाहरगंज, जबलपुर

प्रकाशक

सरल जैन ग्रन्थ भण्डार

जवाहरगंज, जबलपुर ।

प्रथम संस्करण | वीर सं० २४८७ श्रुतपञ्चमी | मूल्य ॥) ५० पैसे

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

हमारे चरित्रनायक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के नंदिसंघ में कर्णाटकप्रान्तस्थ देशीयगण के मुनीश्वर थे। इस गण में अभयनन्दी और वीरनंदी आदि अनेक विद्वान् 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' पद से विभूषित हुये हैं। हमारे चरित्रनायक को भी यह पद प्राप्त हुआ था।

द्रविडदेशीय प्रतापी राजा चामुण्डराय के साथ हमारे आचार्यप्रवर का अतिशय धार्मिक सम्बन्ध था। इन्होंने विक्रम संवत् ७१५ में चैत्रशुक्ला पंचमी रविवार को श्रवणबेलगुल में लोकविख्यात गोम्मट स्वामी (बाहुबलि) की प्रतिष्ठा की और श्रीनेमिचन्द्रस्वामी के चरणों की साक्षीपूर्वक ९६ हजार दीनार (छत्तीस रत्ती सुवर्ण का सिक्का) का गांव गोम्मटस्वामी के उत्सवादि के हेतु नियुक्त किया था। इससे विक्रम संवत् ७१५ में आपका अस्तित्व तथा दक्षिणप्रान्त को सुशोभित करना निर्विवाद सिद्ध है।

गोम्मटसार के 'णमिऊण' इत्यादि उद्धरण से निश्चित है कि अभयनन्दी इन्द्रनन्दी वीरनन्दी और कनकनन्दी ये चारों महान् आचार्य हमारे चरित्रनायक के गुरु थे। ये चारों तथा श्रीनेमिचन्द्र जी प्रायः एक ही समय हुये हैं।

आचार्यप्रवर के बनाये हुये द्रव्यसंग्रह गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रिलोकसार ये चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। कोई महानुभाव द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता और गोम्मटसार के कर्त्ता में विभिन्नता की आशंका करते हैं, विचार करने पर यह उचित प्रतीत नहीं होता।

श्रीनेमिचन्द्र स्वामी संस्कृत, प्राकृत और कर्णाटकी के प्रौढ विद्वान् थे। आपके प्रधान शिष्य श्रीमाधवचन्द्र त्रैविद्य थे जिन्होंने हमारे चरित्रनायक के रचे त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों की टीकाएँ की और उपरोक्त तीनों भाषाओं के प्रौढ जानकार होने से 'त्रैविद्य' पद पाया था।

मोहनलाल काव्यतीर्थ।

॥ नमः श्रीवर्धमानाय ॥

श्रीमन्नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ति-विरचित

✻ द्रव्य-संग्रह ✻

(आदर्श-टीका-सहित)

ग्रन्थकर्ता का मंगलाचरण

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

जीवमजीवं द्रव्यं, जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम् ।
देवेन्द्रवृन्दवन्द्यं, वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥१॥

अन्वयार्थ—(जेण) जिस (जिणवरवसहेण) तीर्थंकर देव ने (जीवमजीवं) जीव और अजीव (दव्वं) द्रव्यों (णिद्दिट्ठं) कहे हैं (देविंदविंदवंदं) इन्द्रों के समूह से नमस्कार करने योग्य (तं) उस तीर्थंकर भगवान को [अहं = मैं नेमिचन्द्र] (सिरसा) शिर नवा कर (सव्वदा) हमेशा (वंदे) नमस्कार करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—मैं (नेमिचन्द्र) उन तीर्थङ्कर भगवान को शिर नवाकर सदा नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्यों का वर्णन किया है और जो सौ इन्द्रों से वंदनीय हैं ॥१॥

विशेष—मिथ्यात्व और राग आदि को जीतने वाला जिन कहलाता है। इसलिये असंयत-सम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनि भी जिन कहे जाते हैं। उनमें बड़े होने से गणधर आदि को जिनवर कहते हैं। गणधरों में भी प्रधान होने से गणधर आदि 'जिनवरवृषभ' कहे जाते हैं। तदुक्तम्-जिनाः = असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः, तेषां वराः, गणधरादयः, तेषां वृषभः प्रधानः जिनवरवृषभः = तीर्थङ्करपरमदेवः ।

सौ इन्द्रों का विवरण

भवणालयचालीसा, वितरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा, चंदो सूरो णरो तिरियो॥

अन्वयार्थ—(भवणालय) भवनवासियों के (चालीसा) चालीस (वितरदेवाण) व्यन्तर देवों के (बत्तीसा) बत्तीस (कप्पामर चउवीसा) कल्पवासियों के चौबीस (चंदो) चन्द्रमा (सूरो) सूर्य (णरो) चक्रवर्ती (तिरियो सिंह [इदि = इस प्रकार, सदिंदा = सौ इन्द्र होंति = होते हैं]॥१॥

भावार्थ—भवनवासियों के ४०, व्यन्तरों के ३२, कल्पवासियों के २४, ज्योतिषियों के चन्द्र तथा सूर्य २, मनुष्यों का चक्रवर्ती १ और तिर्यञ्चों का सिंह १ इस प्रकार कुल ४० + ३२ + २४ + २ + १ + १ = १०० इन्द्र होते हैं। देवों के इन्द्रों में आधे इन्द्र और आधे प्रतीन्द्र होते हैं॥१॥

जीवद्रव्य के नव अधिकार

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥२॥

जीव उपयोगमय, अमूर्ति कर्ता स्वदेहपरिमाण।
भोक्ता संसारस्थ सिद्ध स विस्रसा ऊर्ध्वगति॥२॥

अन्वयार्थ—(सो) वह जीव (जीवो) जीने वाला (उवओगमओ) उपयोगमय (अमुत्ति) अमूर्तिक (कत्ता) कर्मों का कर्त्ता (सदेहपरिमाणो) छोटे बड़े निजशरीर के बराबर रहने वाला (भोत्ता) कर्मों के फल को भोगने वाला (संसारत्थो) संसारी (सिद्धो) सिद्ध [य = और] (विस्ससा) स्वभाव से (उड्ढगई) ऊपर को गमन करने वाला [अत्थि = है]॥२॥

भावार्थ—प्रत्येक जीव (प्राणी) जीने वाला, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्मों का कर्त्ता, नामकर्म के उदय से प्राप्त अपने छोटे

बड़े शरीर के बराबर रहने वाला, शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला, संसारी, सिद्ध और ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

अर्थात्—जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, स्वदेह परिमाणत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व ये जीव के ६ अधिकार हैं।

जीवाधिकार (जीवस्वरूप) का स्पष्टीकरण

तिक्काले चदुपाणा, इंदिय बलमाउ, आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

त्रिकाले चतु प्राणा, इन्द्रियं बलमायु आनप्राणश्च।
व्यवहारात् स जीव, निश्चयनयत तु चेतना यस्य ॥३॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके (ववहारा) व्यवहार नय से (तिक्काले) तीनों कालों में (इंदियं) इन्द्रिय (बलं) बल (आउ) आयु (य) और (आणपाणो) श्वासोच्छ्वास [हवे = ये] (चदुपाणा) चार प्राण [होंति = होते हैं] (दु) और (णिच्चयणयदो) निश्चयनय से (जस्स) जिसके (चेदणा) चेतना [होदि = होती है] (सो) वह (जीवो) जीव [अत्थि = है] ॥३॥

भावार्थ—जिसके यथायोग्य इन्द्रियां, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राण होते हैं वह व्यवहारनय से जीव है। और जिसके चेतना (ज्ञान दर्शन शक्ति) होती है वह निश्चयनय से जीव है। अर्थात् यथासम्भव द्रव्य और भाव प्राणों से जो जीता था, जीता है और जीवेगा वह जीव कहलाता है ॥३॥

उपयोगाधिकार का वर्णन

उवओगो दुवियप्पो, दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही, दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

भावार्थ—व्यवहारनय से यथायोग्य आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन (संसारी या मुक्त की अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञान दर्शन की विशेष विवक्षा बिना) जीव का लक्षण है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से 'शुद्धदर्शन' और 'शुद्ध ज्ञान' ही जीव का लक्षण कहा गया है ॥६॥

अमूर्तित्वाधिकार का विवरण

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥

वर्णाः रसाः पञ्च गन्धौ, द्वौ स्पर्शा अष्टौ निश्चयात् जीवे।
नो सन्ति अमूर्तिः ततः, व्यवहारात् मूर्तिः बन्धतः ॥७॥

अन्वयार्थ—(जीवे) जीव में (णिच्चया) निश्चयनय से (पंच) पांच (वण्ण) वर्ण (रस) पांच (रस) रस (दो) दो (गंधा) गंध (अट्ठ) आठ (फासा) स्पर्श (णो) नहीं (संति) होते हैं (तदो) इस कारण से (अमुत्ति) अमूर्तिक [अस्ति है, च = और] (बंधादो) कर्मबंध सहित होने से (मुत्ति) मूर्तिक [अस्ति = है] ॥७॥

भावार्थ—जिसमें यथायोग्य पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं वह मूर्तिक कहलाता है। जीव में ये वर्णादि नहीं होते, इस कारण जीव निश्चयनय से अमूर्तिक है। किन्तु कर्म तथा पुद्गल में ये वर्णादि २० गुण यथायोग्य होते हैं, इसलिये वे मूर्तिक हैं। कर्म का जीव से सम्बन्ध है अतः कर्मबंध के होने से जीव को व्यवहारनय से मूर्तिक माना है ॥७

कर्तृत्वाधिकार का विवरण

पुग्गलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

पुद्गलकर्मादीनां कर्ता व्यवहारत तु निश्चयत ।
चेतनकर्मणाम् आत्मा, शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(आदा) जीव (ववहारा) व्यवहार नय से (पुग्गलकम्मादीण) ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्म आदि का (णिच्चयणयदो) अशुद्ध निश्चयनय से (चेदणकम्माण) रागादिक भावकर्मों का (दु) और (सुद्धणया) शुद्ध निश्चयनय से (सुद्धभावाणं) शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान आदि चैतन्य भावों का (कत्ता) कर्ता [अस्ति = है] ॥८॥

भावार्थ—जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का तथा शरीरादिक नोकर्मों का, अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भाव कर्मों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्धदर्शन (केवलदर्शन) शुद्धज्ञान (केवलज्ञान) आदि चैतन्यभावों का कर्त्ता है ॥८॥

भोक्तृत्वाधिकार का विवरण

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजदि ।
आदा णिच्चयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

व्यवहारात् सुखदुःखं, पुद्गलकर्मफलं प्रभुङ्क्ते ।
आत्मा निश्चयनयत, चेतनभावं खलु आत्मन ॥९॥

अन्वयार्थ—(आदा) जीव (ववहारा) व्यवहारनय से (पुग्गल कम्मप्फलं) पुद्गलमय कर्मों के फल (सुहदुक्खं) सुख और दुख को (पभुंजदि) भोगता है [दु = और] (णिच्चयणयदो) निश्चयनय से (आदस्स) आत्मा के (चेदणभावं) शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान रूप भावों को (खु) ही (पभुंजदि) भोगता है ॥९॥

भावार्थ—जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादिक कर्मों के फलस्वरूप सुख और दुःख को भोगता है और निश्च

भावार्थ—व्यवहारनय से यथायोग्य आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन (संसारी या मुक्त को अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञान दर्शन की विशेष विवक्षा बिना) जीव का लक्षण है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से 'शुद्धदर्शन' और 'शुद्ध ज्ञान' ही जीव का लक्षण कहा गया है ॥६॥

अमूर्तित्वाधिकार का विवरण

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥

वर्णाः रसाः पञ्च गन्धौ, द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे।
नो सन्ति अमूर्तिः ततः, व्यवहारात् मूर्तिः बन्धतः ॥७॥

अन्वयार्थ—(जीवे) जीव में (णिच्छया) निश्चयनय से (पंच) पांच (वण्ण) वर्ण (पंच) पांच (रस) रस (दो) दो (गंधा) गंध (अट्ठ) आठ (फासा) स्पर्श (णो) नहीं (संति) होते हैं (तदो) इस कारण से (अमुत्ति) अमूर्तिक [अत्थि है, च = और] (बंधादो) कर्मबंध सहित होने से (मुत्ति) मूर्तिक [अत्थि = है] ॥७॥

भावार्थ—जिसमें यथायोग्य पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं वह मूर्तिक कहलाता है। जीव में ये वर्णादि नहीं होते, इस कारण जीव निश्चयनय से अमूर्तिक है। किन्तु कर्मों तथा पुद्गल में ये वर्णादि २० गुण यथायोग्य होते हैं, इसलिये वे मूर्तिक हैं। कर्मों का जीव से सम्बन्ध है, अतः कर्मबन्ध के होने से जीव को व्यवहारनय से मूर्तिक माना है ॥७॥

कर्तृत्वाधिकार का विवरण

पुग्गलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

पुद्गलकर्मादीनां, कर्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः ।
चेतनकर्मणाम् आत्मा, शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(आदा) जीव (ववहारा) व्यवहार नय से (पुग्गलकम्मादीणं) ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्म आदि का (णिच्छयणयदो) अशुद्ध निश्चयनय से (चेदणकम्माणं) रागादिक भावकर्मों का (दु) और (सुद्धणया) शुद्ध निश्चयनय से (सुद्धभावाणं) शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान आदि चेतन भावों का (कत्ता) कर्ता [अस्ति = है] ॥८॥

भावार्थ—जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का तथा शरीरादिक नोकर्म का, अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भाव कर्मों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्धदर्शन (केवलदर्शन) शुद्धज्ञान (केवलज्ञान) आदि चेतनभावों का कर्ता है ॥८॥

भोक्तृत्वाधिकार का निरूपण

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

व्यवहारात् सुखदुःखं, पुद्गलकर्मफलं प्रभुंक्ते ।
आत्मा निश्चयनयतः, चेतनभावं खलु आत्मनः ॥९॥

अन्वयार्थ—(आदा) जीव (ववहारा) व्यवहारनय से (पुग्गलकम्मप्फलं) पुद्गलमय कर्मों के फल (सुहदुक्खं) सुख और दुःख को (पभुंजेदि) भोगता है [दु = और] (णिच्छयणयदो) निश्चयनय से (आदस्स) आत्मा के (चेदणभावं) शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान रूप भावों को (खु) ही (पभुंजेदि) भोगता है ॥९॥

भावार्थ—जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादिक कर्मों के फलस्वरूप सुख और दुःख को भोगता है और निश्चयनय से

आत्मा के शुद्धदर्शन (केवलदर्शन) तथा शुद्धज्ञान (केवलज्ञान) रूप भावों को ही भोगता है ॥ ६ ॥

स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार का वर्णन

अणुगुरु—देह—पमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा, णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥ १० ॥

अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्पाभ्यां चिदात्मा ।
असमुद्घातात् व्यवहारात् , निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा ॥१०॥

अन्वयार्थ—(चेदा) जीव (ववहारा) व्यवहारनय से (उवसंहारप्पसप्पदो) संकोच विस्तार गुण के कारण (असमुहदो) समुद्घात अवस्था के अतिरिक्त शेष सब अवस्थाओं में (अणुगुरुदेहपमाणो) नामकर्म के द्वारा प्राप्त छोटे या बड़े शरीर के बराबर (वा) और (णिच्चयणयदो) निश्चयनय से (असंखदेसो) असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के बराबर [होदि = है ॥१०॥

भावार्थ—जीव व्यवहारनय से समुद्घातों के सिवाय शेष हालतों में शरीरनामकर्म के उदय से होने वाले संकोच विस्तार गुण के कारण घट (घड़ा) आदि में स्थित दीपक की तरह अपने छोटे बड़े शरीर के बराबर है। और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के बराबर है ॥ १० ॥

संसारित्व अधिकार का वर्णन

पुढविजलतेउवाऊ, वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

पृथिवीजलतेजोवायु-वनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुःपंचाक्षाः , त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः ॥११॥

अन्वयार्थ—[उ = ओ] (पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी) पृथ्वी

कायिक जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक (विविहबादरेइंदी) अनेक प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर (हंति) हैं [च = और] (इयरादी) शंख आदिक (विगलिगलचदुपचक्खा) द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय (तसजीवा) त्रसजीव (होंति) हैं [ते = वे] (सव्वे) सब (संसारी) संसारी (विण्णेया) जानना चाहिये ॥११॥

भावार्थ—संसारी जीव के मुख्य दो भेद हैं। त्रस और स्थावर। उनमें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच एकेन्द्रिय 'स्थावर' जीव हैं। और शंख आदि द्वीन्द्रिय, चिवटी आदि त्रीन्द्रिय, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय तथा मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय से चार 'त्रस' जीव हैं। ये सब जीव 'संसारी' कहलाते हैं ॥ ११ ॥

चौदह जीवसमास (जीवों के संक्षिप्त भेद) — Jmp

समणा अमणा णेया, पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
बादरसुहमेइंदी, सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥

समनस्का अमनस्काः, ज्ञेयाः पंचेंद्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे ।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाः, सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(पंचेंदिय) पंचेंद्रिय जीव (समणा) संज्ञी (अमणा) असंज्ञी (परे सव्वे) दूसरे सब एकेंद्रिय आदिक चारों (णिम्मणा) असंज्ञी (णेया) जानना चाहिये (य) और (एइंदी) एकेंद्रिय जीव (बादरसुहमा) बादर और सूक्ष्म दो प्रकार (होंति = हैं) तथा (सव्वे) ये सब (पज्जत्त) पर्याप्तक (य) और (इदरा) अपर्याप्तक (होंति) होते हैं। [ते = वे] (सव्वे) सब (संसारी) संसारी [विण्णेया = जानना चाहिये] ॥१२॥

अन्वयार्थ—(तह) तथा (संसारी) संसारी जीव (असुद्धणया) अशुद्धनय से (चउदस) चौदह चौदह (मग्गणगुणठाणेहि) मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा (चउदस) चौदह-चौदह प्रकार (हवंति) होते हैं (य) और (सुद्धणया) निश्चयनय से (सव्वे) सब (सुद्धा) शुद्ध (हु) ही (विण्णेया) जानना चाहिये ॥१३॥

भावार्थ—संसारी जीव व्यवहारनय से मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से भी चौदह चौदह प्रकार के होते हैं। परन्तु निश्चयनय से सब जीव शुद्ध (निर्विकल्प—भेदरहित—एक स्वभाव—एक रूप) ही हैं ॥१३॥

सिद्ध और ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार का वर्णन

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥

निष्कर्माणः अष्टगुणाः, किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः ।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः ॥१४॥

अन्वयार्थ—[य = जो] (णिक्कम्मा) ज्ञानावरणादि आठ कर्मरहित (अट्ठगुणा) सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित (चरमदेहदो) अन्तिम शरीर से (किंचूणा) कुछ कम [हवंति = होते हैं ते = वे] (सिद्धा) सिद्ध [हवंति = हैं, य = और वे सिद्ध] (णिच्चा) विनाश रहित [य = और] (लोयग्गठिदा) लोक के अग्रभाग में स्थित [हवंति = होते हैं] ॥१४॥

भावार्थ—ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रहित, सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित, छोड़े हुए अन्तिम शरीर से कुछ कम आत्मप्रदेश वाला जीव सिद्ध कहलाता है। यह सिद्धत्व अधिकार है।

वे सिद्ध अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (तोय) जल (गइपरिणयाण) गमन करती हुई (मच्छाण) मछलियों को (गमणसहयारी) चलने में सहायक [अत्थि=है] (तह) उसी प्रकार [जो=जो] (गइपरिणयाण) चलते हुए (पुग्गलजीवाण) पुद्गल और जीवों को (गमणसहयारी) चलने में सहायक [होदि=होता है सो=वह] (धम्मो) धर्मद्रव्य [णेओ=जानना चाहिए] किन्तु (सो) वह धर्मद्रव्य अच्छता) ठहरे हुए जीवों और पुद्गलों को (णेव) नहीं (णेइ) चलाता है ॥१८॥

भावार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य ही हिलते चलते हैं, शेष द्रव्यें नहीं। जैसे पानी चलती हुई मछली को चलने में सहायता करता है उसी प्रकार जो द्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गल को चलने में सहायता करता है वह धर्मद्रव्य कहलाता है। किन्तु जैसे पानी मछली को चलने के हेतु प्रेरणा नहीं करता, उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी ठहरे हुए जीव और पुद्गलों को जबर्दस्ती नहीं चलाता ॥१७॥

नोट—यदि धर्मद्रव्य को जीव और पुद्गलों के गमन करने में उदासीन कारण न मानकर प्रेरक कारण माना जाय तो यह बाधा उपस्थित होगी कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सर्वत्र एवं सर्वदा लोक में पाये जाते हैं इससे जब धर्मद्रव्य चलने में सहायक होगा तब अधर्म द्रव्य चलने में बाधक होगा तथा जब अधर्मद्रव्य ठहरने में सहायक होगा तब धर्मद्रव्य ठहरने में बाधक होगा। इससे सिद्ध है कि दोनों द्रव्य उदासीन रूप से ही सहायक है ॥१७॥

धर्म और अधर्म द्रव्य से यहां पुण्य और पाप नहीं समझना ! किन्तु षड्द्रव्यों के अन्तर्गत द्रव्यें जानना। और अन्यत्र , धर्म वा अधर्म का अर्थ शुभाशुभ कर्म का फल पुण्य और जानना।

अधर्मद्रव्य का स्वरूप

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं, गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

स्थानयुतानामधर्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी ।
छाया यथा पथिकानां, गच्छतो नैव स धरति ॥१८॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (छाया) छाया (ठाणजुदाण) ठहरते हुए (पहियाण) पथिक जनों को (ठाणसहयारी) ठहरने में सहायक [होदि = होती है तह = उसी प्रकार, सो = वो] (ठाणजुदाण) ठहरते हुए (पुग्गलजीवाण) पुद्गल और जीवों को (ठाणसहयारी) ठहरने में सहायक [होदि = होता है सो = वह] (अधम्मो) अधर्मद्रव्य [णेओ = जानना चाहिये] (सो वह अधर्म द्रव्य (गच्छंतो) गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को (णेव) नहीं (धरई ठहराता है ।

भावार्थ—जैसे यदि मुसाफिर ठहरना चाहे तो वृक्ष की छाया उसके ठहरने में सहायता करती है, किन्तु चलना चाहे तो उसे प्रेरणा कर नहीं ठहराती, उसी प्रकार जो जीव या पुद्गल ठहरते हैं, उन्हें ठहरने में जो सहायता करता है (प्रेरणा नहीं करता) वह अधर्मद्रव्य कहलाता है ॥ १८ ॥

आकाशद्रव्य का लक्षण

अवगासदाणजोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अवकाशदानयोग्यं, जीवादीनां विजानीहि आकाशम् ।
जैनं लोकाकाशम्, अलोकाकाशमिति द्विविधम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(जीवादीण) जीवादि छहों द्रव्यों के (अवगास दाणजोग्गं) अवकाश देने में समर्थ द्रव्य को (जेण्हं) भगवान् जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ (आयासं) आकाश (जाण) जानना चाहिये [तं = वह आकाश] (लोगागासं) लोकाकाश [च = और] (अल्लोगागासं) अलोकाकाश (इदि) इस प्रकार (दुविहं) दो प्रकार का [अत्थि = है] ॥१९॥

भावार्थ—जो समस्त द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। उस आकाश द्रव्य के लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो भेद हैं ॥१९॥

लोकाकाश और अलोकाकाश का स्वरूप

धम्माधम्मा कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो, [तत्तो परदो अलोगुत्तो] ॥२०॥

धर्माधर्मौ कालः, पुद्गलजीवाश्च सन्ति यावति ।
आकाशे स लोकः, ततः परतः अलोकः उक्तः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(जावदिये) जितने (आयासे) आकाश में (धम्माधम्मा) धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य (कालो) कालद्रव्य [य = और] (पुग्गलजीवा) पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य (संति) रहते हैं (सो) वह (लोगो) लोकाकाश [अत्थि = है] (तत्तो) उससे (परदो) बाहर (अलोगुत्तो) अलोकाकाश कहा गया है ॥२०॥

भावार्थ—जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य रहते (देखे जाते) हैं, आकाश के उतने भाग को लोकाकाश (लोक) कहते हैं। उसके बाद ये ५ द्रव्य नहीं देखे जाते, केवल अनन्त आकाश है उसे अलोकाकाश (अलोक) कहते हैं ॥२०॥

शंका — आकाश के अनन्त भागों में से एक भाग प्रमाण असंख्यात प्रदेशों के धारक लोकाकाश (लोक) में अनन्त जीव, उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल, लोकाकाशप्रमाण असंख्यात कालाणु तथा लोकाकाश प्रमाण धर्म अधर्म द्रव्य अवकाश (स्थान) कैसे पाते हैं ?

उत्तर — जैसे एक दीपक के प्रकाश में अन्य अनेक दीपकों का प्रकाश स्थान पाता है उस तरह। अथवा जैसे एक गूढ़रस विशेष से भरे हुये शीशे के बर्तन में बहुतसा सुवर्ण अवकाश पाता है उस तरह। अथवा जैसे भस्म से भरे हुए घट (घड़ा) में सुइयां और ऊंटनी का दूध आदि समा जाते हैं उसी प्रकार विशिष्ट अवगाहन शक्ति के वश से असंख्यातप्रदेश वाले लोक में पूर्वोक्त द्रव्यों का रहना विरोध को प्राप्त नहीं होता।

जैसे सिद्ध निज प्रदेशों में रहते हैं उसी प्रकार निश्चयनय से यद्यपि सभी द्रव्य अपने अपने प्रदेशों में स्थित रहते हैं तथापि उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से सब द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं।

शंका — धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं फिर एक दूसरे को क्यों नहीं रोकते ?

उत्तर — ये तीनों द्रव्य लोकाकाश में अनादिकाल से रहते हैं। इनके प्रदेश 'अमूर्तिक होने से' एक दूसरे के प्रदेशों को नहीं रोकते। जैसे—जल राख और वायु आदि मूर्तिक पदार्थों में विरोध नहीं होता, उसी प्रकार अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले अमूर्तिक द्रव्यों में भी विरोध नहीं आता।

कालद्रव्य का लक्षण

दव्वपरिवट्टरूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो, य परमट्ठो ॥२१॥

अस्तिकाय का लक्षण तथा अस्तिकायनाम का कारण

संति जदो तेणेदे, अत्थीति भणंति जिणवरा जह्मा ।
काया इव बहुदेसा, तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥

सन्ति यतस्तेनैते, अस्तीति भणन्ति जिनवराः यस्मात् ।
काया इव बहुदेशाः, तस्मात्कायाश्चास्तिकायाश्च ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जदो) क्योंकि (एदे) ये जीव आदि द्रव्य (संति) हैं (तेण) इसलिये [उनको] (जिणवरा) भगवज्जिनेन्द्रदेव (अत्थीति) अस्ति ऐसा (भणंति) कहते हैं। (य) और (जह्मा) जिस कारण से (काया इव) शरीर के समान (बहुदेसा) बहुत प्रदेश वाले [होंति = होते हैं] (तह्मा) इस कारण (काया) काय (य) और [मिलित्ता = मिल कर] (अत्थिकाया) अस्तिकाय [उत्ता = कहे गये हैं] ॥२४॥

भावार्थ—ये पांचों द्रव्य सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये इन्हें अस्ति (विद्यमान) कहते हैं। और जैसे काय शरीर बहुप्रदेशी है उसी प्रकार ये धर्म आदि द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं, इसलिये इन्हें काय कहते हैं। इस प्रकार पांचों द्रव्यों की अस्तिकाय संज्ञा होती है। 'अस्ति विद्यते काय बहुप्रदेशत्वं यस्यासौ अस्तिकाय। कालद्रव्य अस्ति (विद्यमान) तो है किन्तु वह एकप्रदेशी होने से काय नहीं, इससे वह अस्तिकाय नहीं है ॥२४॥

द्रव्यों के प्रदेश व काल के अस्तिकायत्व का निषेध

होंति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

भवन्त्यसंख्या जीवे, धर्माधर्मयो अनन्ता आकाशे ।
मूर्ते त्रिविधा प्रदेशाः, कालस्यैको न तेन [illegible] ॥२५॥

अन्वयार्थ—(जीव) एक जीव व (धम्माधम्मे) धर्म और अधर्म द्रव्य में (असंखा) असंख्यात (आयासे) आकाश द्रव्य में (अणंता) अनन्त [य=और] (मुत्ते) पुद्गल द्रव्य में (तिविह) संख्यात असंख्यात और अनन्त (पदेशा) प्रदेश (होंति) होते हैं। (कालस्स) काल द्रव्य के (एगो) एक [पदेशो=प्रदेश, होदि= होता है] (तेण इसलिये (सो) वह कालद्रव्य (काओ=कायवान्) (ण) नहीं [भाव=है] ॥२५॥

भावार्थ—एक जीव समस्त लोकाकाश में फैल सकता है, लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। इससे जीव असंख्यात प्रदेशी है। धर्म तथा अधर्म द्रव्य भी समस्त लोकाकाश में तिल में तेल के समान व्याप्त हैं, इससे ये भी असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, क्योंकि वह लोकाकाश के बाहर भी है और उसकी कोई सीमा नहीं। पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। इसीलिये ये पाचों बहु प्रदेशी होने से 'अस्तिकाय' हैं। किन्तु काल के अणु पृथक्-पृथक् अलग रहते हैं, वे मिलकर स्कन्धरूप नहीं होते, इस कारण वह एकप्रदेशी है, कायवान् (अस्तिकाय) नहीं ॥२५॥

पुद्गल व परमाणु के अस्तिकाय पना

एयपदेशो वि अणू, णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥२६॥

एकप्रदेश अपि अणु, नानास्कन्धप्रदेशतः भवति।
बहुदेश उपचारात्, तेन च काय भणन्ति सर्वज्ञा ॥२६॥

अन्वयार्थ—(एयपदेसो) एक प्रदेश वाला (वि) भी (अणु) पुद्गल का परमाणु (णाणाखंधप्पदेसदो) नानास्कन्धों का कारण होने से (बहुदेसो) बहुप्रदेशी (होदि) होता है (य) और (

इसलिये (सव्वण्हु) सर्वज्ञदेव [त=उसे] (उवयारा) व्यवहारनय से (काओ) कायवान् (भणंति) कहते हैं ॥२६॥

भावार्थ—पुद्गल के परमाणु का दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता, इसलिये वह स्वयं तो बहुप्रदेशी (कायवान या अस्तिकाय) नहीं है, किन्तु अनेक प्रकार के पुद्गलस्कन्ध का कारण है इसलिये बहुप्रदेशी स्कन्ध का कारण होने से व्यवहार से (कारण में कार्य के उपचार से) उसे कायवान् (अस्तिकाय) कहते हैं ॥२६॥

प्रदेश का लक्षण और शक्ति

जावदियं आयासं, अविभागी-पुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥

यावन्मात्रम् आकाशं, अविभागिपुद्गलाण्ववष्टब्धम् ।
तं खलु प्रदेशं जानीहि, सर्वाणुस्थानदानार्हम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(जावदियं) जितना (आयासं) आकाश (अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं) पुद्गल के सबसे छोटे परमाणु से रुकने वाला [अत्थि=है] (तं) उसको (खु) निश्चय से (सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं) सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ (पदेसं) प्रदेश (जाणे) जानना चाहिये ॥२७॥

भावार्थ—आकाश के जितने क्षेत्र में पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा (परमाणु) रहता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेश में धर्म और अधर्म के एक-एक प्रदेश, काल का अणु और पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त अणु भी लोहे में आग के समान एक क्षेत्रावगाही होकर समा जाते हैं। इसलिये प्रदेश को सब द्रव्यों के अणुओं को स्थान देने योग्य कहा है ॥२७॥

अथ द्वितीय अधिकार

सात पदार्थों के कहने की सकारण प्रतिज्ञा

आसवबंधणसंवर—णिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे ।
जीवाजीव-विसेसा, तेवि समासेण पभणामो ॥२८॥

आस्रवबन्धनसंवर—निर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये ।
जीवाजीवविशेषाः, तानपि समासेन प्रभणामः ॥२८॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (जीवाजीवविसेसा) जीव और अजीव के विशेष भेद (सपुण्णपावा) पुण्य और पाप सहित (आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा) आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष [संति = हैं] (तेवि) उनको भी (समासेण) संक्षेप से (पभणामो) कहता हूँ ॥२८॥

भावार्थ—पुण्य पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ भी जीव और अजीव के ही विशेष भेद हैं। अर्थात् जीव और अजीव द्रव्य में छहों द्रव्य, सातों तत्त्व और नौ पदार्थ शामिल हैं। इसलिये उनका भी संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जाता है ॥२८॥

विशेष—जीव, संवर निर्जरा और मोक्ष ये ४ पदार्थ तो उपादेय हैं, शेष अजीव आस्रव बंध पुण्य और पाप ये ५ पदार्थ हेय हैं। मोक्षमार्ग में इन नौ पदार्थों का जानना आवश्यक है। क्योंकि इनके श्रद्धान से ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

भावास्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण

आसवदि जेण कम्मं, परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि

भावबंध और द्रव्यबंध का लक्षण

बज्झदि कम्मं जेण दु, चेदणभावेण भावबन्धो सो ।
कम्मादपदेसाणं, अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

बध्यते कर्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः ।
कर्मात्मप्रदेशाना-मन्योऽन्यप्रवेशनं इतरः ॥३२॥

अन्वयार्थ— जेण) जिस (चेदणभावेण) आत्मा के परिणाम से (कम्मं) कर्म (बज्झदि) बँधता है (सो) वह परिणाम (भावबंधो) भावबंध [अत्थि = है, दु = और] (कम्मादपदेसाणं) कर्म और आत्मा के प्रदेशों का (अण्णोण्णपवेसणं) परस्पर एकमेक होकर मिल जाना (इदरो) दूसरा द्रव्यबंध [अत्थि = है] ॥३२॥

भावार्थ—आत्मा के जिस मिथ्यात्व या रागादि परिणाम से आत्मा में कर्म का बंध होता है, वह परिणाम भावबंध कहलाता है। और भावबंध के निमित्त से कर्मरूप पुद्‌गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों में दूध और पानी के समान परस्पर एकमेक होकर मिल जाना (एक क्षेत्रावगाही हो जाना) द्रव्यबंध कहलाता है ॥३२॥

बंध के भेद और उनके कारण

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा, ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

प्रकृतिस्थित्यनुभाग प्रदेशभेदात् तु चतुर्विधो बन्धः ।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ, स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(बंधो) बंध (पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा) प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद से (चदुविधो) चार प्रकार [अत्थि = है, तत्थ = उनमें] (पयडिपदेसा) प्रकृतिबंध और

प्रदेशबंध (जोगा) योग से (दु) और (ठिदियणुभागा) स्थितिबंध और अनुभागबंध (कसायदो) कषाय से (होंति) होते हैं ॥३३॥

भावार्थ—१ प्रकृतिबंध, २ स्थितिबंध, ३ अनुभागबंध और ४ प्रदेशबंध इस प्रकार बंध ४ प्रकार का है। उनमें प्रकृति बंध और प्रदेशबंध तो योग से होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं ॥३३॥

भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु, दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

चेतनपरिणाम य , कर्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः ।
स भावसंवर खलु, द्रव्यास्रवरोधने अन्य ॥३४॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (चेदणपरिणामो) आत्मा का परिणाम (कम्मस्स) कर्म के (आसवणिरोहणे) आस्रव के रोकने में (हेऊ) कारण [अत्थि=है] (सो) वह परिणाम (खलु) निश्चय से (भावसंवरो) भावसंवर [अत्थि=है] [च=और] (जो) जो (दव्वासवरोहणे) द्रव्यास्रव के रोकने में (हेऊ) कारण [अत्थि=है] (सो) वह (अण्णो) दूसरा द्रव्यसंवर [अत्थि=है] ॥३४॥

भावार्थ—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आना बन्द होता है उस परिणाम को भावसंवर कहते हैं। और जो द्रव्यास्रव (द्रव्यकर्म का आना) रोकता है उसे द्रव्यसंवर कहते हैं ॥३४॥

भावसंवर के भेद

वदसमिदीगुत्तीओ, धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं [illegible] भावसंवरविसेसा

व्रतसमितिगुप्तय, धर्मानुप्रेक्षा परीषहजयश्च ।
चारित्र बहुभेदं, ज्ञातव्या भावसंवरविशेषा ॥ ३५॥

अन्वयार्थ—(वदसमिदीगुत्तीओ) व्रत, समिति गुप्ति (धम्मा णुपेहा) धर्म, अनुप्रेक्षा (परीषहजओ) परीषहजय (य) और (बहुभेय) बहुत प्रकार (चारित्र) चारित्र [एदे = ये सब] (भावसंवरविसेसा) भावसंवर के भेद (णायव्वा) जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

भावार्थ—५ व्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परीषहजय और अनेक प्रकार का चारित्र ये सब भावसंवर के भेद हैं। अर्थात् ये सब कर्मों का आस्रव रोकने में कारण हैं ॥३५॥

शंका—आस्रव और बंध में मिथ्यात्व और अविरति आदि कारण समान हैं, फिर इनमें क्या भेद है ? उत्तर प्रथमक्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन होता है वह तो आस्रव है और कर्मस्कन्धों के आगमन के पीछे द्वितीय आदि क्षण में उनका आत्मा में स्थित होना बन्ध है। यही इन दोनों में अन्तर है।

निर्जरा का लक्षण और भेद

जहकालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया, तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

यथाकाल तपसा च, भुक्तरसं कर्मपुद्गलं येन ।
भावेन सडति ज्ञेया, तत्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ॥३६॥

अन्वयार्थ—(जहकालेण) कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से (भुत्तरसं जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा (कम्मपुग्गलं) पुद्गलमयकर्म (जेण) जिस (भावेण) परिणाम से (सडदि) छूटता है [वही परिणाम सविपाक भावनिर्जरा है] (य) और (तवेण) तप के द्वारा (जया भावेण कम्मपुग्गलं सडदि) आत्मा के जिस परिणाम से

कर्म छूटना है यही परिणाम अविपाकभावनिर्जरा है, तथा] [जह कालेण, य तवेण = स्थिति पूरी होने से या तप से] (तस्सडदो) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का छूटना [सविपाक और अविपाक द्रव्य निर्जरा है (इदि) इस प्रकार (विण्णेया) निर्जरा (दुविहा) दो प्रकार (णेया) जानना चाहिये ॥३६॥

भावार्थ—निर्जरा के दो भेद हैं। १ द्रव्य और २ भाव। आत्मा के जिन परिणामों से कर्म एकदेश छूटते हैं उन परिणामों को भावनिर्जरा कहते हैं। तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्य-कर्मों का एकदेश छूटना द्रव्यनिर्जरा है।

ये दोनों प्रकार की द्रव्य और भाव निर्जरा भी सविपाक (अकाम) तथा अविपाक (सकाम) निर्जरा के भेद से दो प्रकार हैं। कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर अर्थात् फल [illegible] आत्मा से कर्मों का एकदेश छूटना सविपाक निर्जरा [illegible] है। तथा तपश्चरण से कर्मों का एकदेश छूटना [illegible] निर्जरा कहलाती है ॥३६॥

मोक्ष का स्वरूप और उसके [illegible]

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहदू अप्पणो हु [illegible]
णेयो स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्म[illegible]

सर्वस्य कर्मणः यः, क्षयहेतुः आत्मनः [illegible]
ज्ञेयः सः भावमोक्षः, द्रव्यविमोक्षः, [illegible]

अन्वयार्थ—(जो) जो (अप्पणो) [illegible] परिणाम (सव्वस्स) समस्त (कम्मणो) [illegible] होने का कारण [अस्ति = है] (सु) [illegible] (भावमोक्खो) भावमोक्ष (णेयो) [illegible] (कम्मपुहभावो) ज्ञानावरणादि द्रव्य[illegible] मोक्खो) द्रव्यमोक्ष [अस्ति = है] [illegible]

भावार्थ—मोक्ष के दो भेद हैं। द्रव्यमोक्ष और भाव मोक्ष। आत्मा का जो परिणाम कर्मों के सर्वथा क्षय (नाश) होने में कारण होता है। उस परिणाम को भावमोक्ष कहते हैं। और ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों का सर्वथा क्षय (अभाव) हो जाना द्रव्यमोक्ष है। यह द्रव्यमोक्ष अयोगगुणस्थानवर्ती जीव के अन्त्य समय में होता है ॥३७॥

पुण्य और पाप पदार्थ का वर्णन

सुहअसुहभावजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥

शुभाशुभभावयुक्ताः, पुण्यं पापं भवन्ति खलु जीवाः।
सातं शुभायुः नाम, गोत्रं पुण्यं, पराणि पापं च ॥३८॥

अन्वयार्थ—(सुहअसुहभावजुत्ता) अच्छे और खोटे परिणामों सहित (जीवा) जीव (खलु) निश्चय से (पुण्णं) पुण्य रूप [च= और] (पावं) पापरूप (हवंति) होते हैं [च=और] (सादं) साता वेदनीय (सुहाउ) शुभ आयु (णामं) शुभनाम (च) और (गोदं) उच्चगोत्र (पुण्णं) पुण्यरूप (हवंति) हैं (पराणि) शेष सब कर्म (पावं) पापरूप [हवंति= हैं] ॥३८॥

भावार्थ—पुण्य और पाप के भी दो दो भेद हैं। भाव पुण्य और द्रव्यपुण्य। भावपाप और द्रव्यपाप। प्रथम जीव के शुभभावों को भावपुण्य और अशुभभावों को भावपाप कहते हैं। तथा कर्म की पुण्य प्रकृतियों को द्रव्यपुण्य और पाप प्रकृतियों को द्रव्यपाप कहते हैं। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम, उच्चगोत्र ये पुण्य प्रकृतियां हैं तथा असातावेदनीय, अशुभायु, अशुभनाम, नीचगोत्र तथा घातिया कर्म कुल ये पाप प्रकृतियां हैं ॥३८॥

॥ इति द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः ॥

* अथ तृतीयोऽधिकार. *

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का लक्षण

सम्मद्दंसणणाणं, चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा, णिच्चयदो, तत्तियमइयो णिओ अप्पा ॥३९॥

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि ।
व्यवहारात् निश्चयतः तत्त्रितयमयः निजः आत्मा ॥३९॥

अन्वयार्थ—(ववहारा) व्यवहारनय से (सम्मद्दंसणणाणचरणं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र [च = और] (णिच्चयदो) निश्चयनय से (तत्तियमइयो) उन तीनों सहित (णिओ) अपना (अप्पा) आत्मा (मोक्खस्स) मोक्ष का कारण) कारण (जाणे) जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मोक्षमार्ग के दो भेद हैं। १ व्यवहार और २ निश्चय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समुदाय तो व्यवहारमोक्षमार्ग कहलाता है। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित आत्मा निश्चयमोक्ष मार्ग कहलाता है ॥३९॥

सम्यग्दर्शन आदि तीनों का समुदाय ही मोक्षमार्ग है, पृथक् २ नहीं। जैसे दवा का विश्वास, ज्ञान और सेवन में से किसी एक के न होने से निरोगता का लाभ नहीं होता, उसी प्रकार अलग अलग सम्यग्दर्शनादि से भी मोक्ष नहीं होता। कहा भी है कि—

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा, न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ, तौ सम्प्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥

अर्थात्—जैसे एक जगह अग्नि लगने पर दौड़ता हुआ अन्धा जल गया और देखता हुआ लँगड़ा जल गया। दूसरी जगह दोनों ने परस्पर सहायता की जिससे दोनों अग्नि से बच गये इसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष के साधक होते हैं, अलग अलग होकर नहीं।

आत्मा ही को निश्चयमोक्षमार्ग कहने का कारण

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तह्मा तत्तियमइयो, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

रत्नत्रयं न वर्तते, आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात्तत्त्रितयमयः, भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा ॥४०॥

अन्वयार्थ—(रयणत्तयं) रत्नत्रय (अप्पाणं) आत्मा को (मुयत्तु) छोड़कर (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्य में (ण वट्टइ) नहीं रहता (तह्मा) इसलिये (तत्तियमइयो) उन तीनों सहित (आदा) आत्मा (हु) ही (मोक्खस्स) मोक्ष का (कारणं) कारण (होदि) होता है ॥४०॥

भावार्थ—रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) आत्मा (जीव) में ही रहता है, अन्य द्रव्य में नहीं, इसलिये इन तीनों सहित आत्मा ही निश्चय मोक्ष मार्ग है ॥४०॥

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीवादी-सद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं, रूपमात्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं, ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥४१॥

अर्थात्—जैसे एक नगर अग्नि लगने पर दौड़ता हुआ अन्धा जल गया और देखता हुआ लँगड़ा जल गया। दूसरी जगह दोनों ने परस्पर सहायता की जिससे दोनों अग्नि से बच गये इसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष के साधक होते हैं, अलग अलग होकर नहीं।

आत्मा ही को निश्चयमोक्षमार्ग कहने का कारण

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि ।
तह्मा तत्तियमइयो, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

रत्नत्रयं न वर्तते, आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात्तत्त्रितयमयः, भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा ॥४०॥

अन्वयार्थ—(रयणत्तय) रत्नत्रय (अप्पाणं) आत्मा को (मुयत्तु) छोड़कर (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्य में (ण वट्टइ) नहीं रहता, (तह्मा) इसलिए (तत्तियमइयो) उन तीनों सहित (आदा) आत्मा (हु) ही (मोक्खस्स) मोक्ष का (कारणं) कारण (होदि) होता है ॥४०॥

भावार्थ—रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) आत्मा (जीव) में ही रहता है, अन्य द्रव्य में नहीं, इसलिये इन तीनों सहित आत्मा ही निश्चय मोक्ष मार्ग है ॥४०॥

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीवादी-सद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं, रूपमात्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं, ज्ञानं सम्यक् खलु भवति

अन्वयार्थ—(जम्हि सदि) जिसके होने पर (खु) ही (णाणं) ज्ञान (दुरभिणिवेसविमुक्कं) संशयादि रहित (सम्मं) यथार्थ (होदि) होता है (एतत्) (जीवादीसद्दहणं) जीवादिक सातों तत्त्वों का श्रद्धान (सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन [अस्ति = है] (सो) वह सम्यग्दर्शन (अप्पणो) आत्मा का (रूवं) स्वरूप [अस्ति = है] ॥४१॥

भावार्थ— भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए नाना तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान (विश्वास) करना व्यवहार सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) कहलाता है। आत्मस्वरूप के श्रद्धान [निश्चय सम्यग्दर्शन] कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप (स्वभाव, गुण या धर्म) है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर ही संशय आदि का अभाव हो जाने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) कहलाता है ॥४१॥

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संसयविमोहविब्भम-विवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं, सायार-मणेयभेयं च ॥४२॥

संशयविमोहविभ्रमविवर्जितम् आत्मपरस्वरूपस्य।
ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं साकारमनेकभेदं च ॥४२॥

अन्वयार्थ—(अप्पपरसरूवस्स) अपने स्वरूप का और पर वस्तुओं के स्वरूप का (संसयविमोहविब्भमविवज्जियं) संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित (सायारम्) आकार विकल्प सहित (गहणं) जैसा का तैसा जानना (सम्मं णाणं) सम्यग्ज्ञान [अस्ति = है] (च) और [यह सम्यग्ज्ञान] (अणेयभेयं) अनेक भेद वाला [अस्ति = है] ॥४२॥

भावार्थ—आत्मा और परवस्तुओं के स्वरूप का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तथा आकारसहित—"यह है, यह पट है" इत्यादि विकल्पसहित जैसा का तैसा

जानना सम्यग्ज्ञान (यथार्थज्ञान) कहलाता है। अर्थात् आत्म स्वरूप का यथार्थ जानना निश्चयसम्यग्ज्ञान कहलाता है। उस सम्यग्ज्ञान के मतिज्ञान आदि अनेक भेद होते हैं ॥४२॥

दर्शनोपयोग का लक्षण

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णए समये ॥४३॥

यत्सामान्यं ग्रहणं, भावानां नैव कृत्वा आकारम् ।
अविशेषयित्वा अर्थान्, दर्शनमिति भण्यते समये ॥४३॥

अन्वयार्थ—(अट्ठे) पदार्थों को (अविसेसिदूण) विशेषता नहीं करके (आयारं) आकार को (णेव कट्टु) ग्रहण नहीं करके (जं) जो (भावाणं) पदार्थों का (सामण्णं) सामान्य (गहणं) ग्रहण करना। [अत्थि = है, सो वह] (समये) जैन सिद्धान्त में (दंसणं) दर्शनोपयोग (भण्णए) कहा गया है ॥ ४३ ॥

भावार्थ—पदार्थों का विशेषरूप और आकार रहित सामान्यरूप से सत्तामात्र का ग्रहण करना दर्शनोपयोग कहलाता है। इसमें 'यह काला है यह छोटा है, यह बड़ा है' इत्यादि किसी प्रकार का विकल्प पैदा नहीं होता। 'वस्तु है' इस प्रकार पदार्थ की सत्ता (मौजूदगी) मात्र प्रतिभासित होती है अर्थात् यह निर्विकल्प होता है ॥४३॥

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का नियम

दंसणपुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगवं जह्मा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥

दर्शनपूर्वं ज्ञानं, छद्मस्थानां न द्वौ उपयोगौ ।
युगपद्यस्मात् केवलि-नाथे युगपत् तौ द्वौ अपि ॥४४॥

अन्वयार्थ—(छदुमत्थाणं) छाद्मस्थिक [illegible] (णाणं) ज्ञान (दसणपुव्वं) दर्शनपूर्वक [ह]=[illegible] (जह्मा) क्योंकि (छदुमत्थाणं) छाद्मस्थिक [illegible] दो (उवओगा) उपयोग (जुगवं) एक साथ ([illegible] होते हैं] (दु) किंतु (केवलिणाहे) [illegible] [illegible]) दोनों ही उपयोग (जुगवं) एक साथ [[illegible]]

भावार्थ—अल्पज्ञानियों के [illegible] नहीं हो सकते क्योंकि उनके दो उपयोग [illegible] इसलिये उनका ज्ञान, दर्शन होने के [illegible] केवली भगवान् के ये दोनों [illegible] उपयोग [illegible] लिये उनके दर्शन और ज्ञान में [illegible] उनके दोनों उपयोग एक साथ होते हैं ॥[illegible]

विशेष—यहां पर तत्त्वार्थश्रद्धानरूप [illegible] चाहिए क्योंकि श्रद्धान तो निश्चय[illegible] [illegible] रहित है ॥ ४२ ॥

व्यवहारसम्यक्चारित्र का स्वरूप [illegible]

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥

अशुभात् विनिवृत्तिः, शुभे प्रवृत्तिश्च [illegible]
व्रतसमितिगुप्तिरूपं, व्यवहारनयात् तु [illegible]

अन्वयार्थ—(असुहादो) अशुभ कार्य से [विणिवित्ती] निवृत्त होना (य) और (सुहे) शुभ कार्य में (पवित्ती) प्रवृत्ति करना (ववहारणया) व्यवहारनय से ([illegible]) चारित्र ([illegible]) [illegible] (दु) और ([illegible])

कहा हुआ [त = वह चारित्र] (वदसमिदिगुत्तिरूवं व्रत, समिति और गुप्ति रूप [अत्थि = है] ॥४५॥

भावार्थ—व्यसन, कषाय और पाप आदि पापजनक कार्यों से विरक्त होना (निवृत्तिरूप) तथा दान पूजा आदि धार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति करना (प्रवृत्तिरूप) व्यवहार चारित्र कहलाता है। यह चारित्र ५ व्रत ५ समिति और ३ गुप्ति के भेद से १३ (तरह) प्रकार का है ॥४५॥

निश्चयसम्यक्चारित्र का लक्षण

बहिरब्भंतरकिरिया-रोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

बहिरभ्यन्तरक्रिया-रोधो, भवकारणप्रणाशार्थं ।
ज्ञानिनः यज्जिनोक्तं, तत् परमं सम्यक्चारित्रम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(णाणिस्स) ज्ञानी का (भवकारणप्पणासट्ठं) संसार के कारणों का नाश करने के लिये (बहिरब्भंतरकिरियारोहो) बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं का रोकना (जिणुत्तं) जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ (परमं) उत्कृष्ट या निश्चय (सम्मचारित्तं) सम्यक्चारित्र [जाण = जानना चाहिये] ॥४६॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान होने के बाद संसार से छूटने के लिये त्रियोग की शुभ और अशुभ बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं का रोकना (आत्मा को विशुद्ध बनाना) निश्चय सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥४६॥

ध्यानाभ्यास करने की हेतुपूर्वक प्रेरणा

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

द्विविधमपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनि नियमात् ।
तस्मात् प्रयत्नचित्ता, यूयं ध्यानं समभ्यसध्वम् ॥४७॥

अन्वयार्थ—(ज) क्योंकि (मुणी) मुनि (णियमा) नियम से (झाण) ध्यान से (दुविहंपि) दोनों ही (मोक्खहेउ) मोक्ष के कारणों को (पाउणदि) प्राप्त करता है । (तह्मा) इसलिये (जूय) तुम सब (पयत्तचित्ता) प्रयत्नशील होते हुए (झाणं) ध्यान का (समब्भसह) भली प्रकार अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

भावार्थ—ध्यान करने से ही मुनियों के निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। इसलिये यदि तुम्हें भी मोक्षप्राप्ति की इच्छा है, तो तुम भी प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने का अभ्यास करो ॥४७॥

ध्यान में लीन होने का उपाय

मा मुज्झह, मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं, विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

मा मुह्यत मा रज्यत, मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु ।
स्थिरमिच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥४८॥

अन्वयार्थ—(जइ) यदि (विचित्तझाणप्पसिद्धीए) अनेक प्रकार का ध्यान करने के लिये (चित्तं) चित्त को (थिरं) स्थिर करना (इच्छह) चाहते हो [तो] (इट्ठणिट्ठअत्थेसु) इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में (मा मुज्झह) मोह मत करो (मा रज्जह) राग मत करो (मा दुस्सह) द्वेष मत करो ॥ ४८ ॥

विचित्र के सिवाय विचित्त पाठ भी सम्भव है जिसका अर्थ शुभाशुभ विकल्प रहित अनेक प्रकार का स्थ आदि ध्यान भी ...

भावार्थ—यदि सच्चा शुभाशुभ ...
करना चाहते हो तो इस (मिथ) ...

करो और अनिष्ट (अप्रिय) पदार्थ में द्वेष मत करो। क्योंकि इष्टानिष्ट पदार्थों में राग द्वेष से जीव संसार में फँसता है, और इनके परित्याग से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है तब जीव संसार से मुक्त भी हो जाता है ॥४८॥

ध्यान करने योग्य मन्त्र

पणतीस सोल छप्पण, चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं, अण्णं च गुरूवएसेण ॥४६॥

पञ्चत्रिंशत् षोडश षट् पंच चतुः द्विकमेकं च जपत ध्यायत ।
परमेष्ठिवाचकानाम्, अन्यच्च गुरूपदेशेन ॥४९॥

अन्वयार्थ—(परमेट्ठिवाचयाणं) परमेष्ठिवाचक (पणतीस) पैंतीस (सोल) सोलह (छप्पण) छह पांच (चदु) चार (दुग) दो (एग) एक अक्षर वाले मन्त्र को [तथा] (गुरूवएसेण) यथार्थ गुरु के उपदेश से (अण्णं) और मन्त्रों को [भी] (जवह) जपो (च) और (झाएह) ध्याओ ॥ ४६ ॥

भावार्थ—परमेष्ठिवाचक पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर वाले तथा गुरूपदिष्ट अन्य (सिद्धचक्रादि) मंत्रों का भी जाप तथा ध्यान करना चाहिए ॥४६॥

अरिहन्तपरमेष्ठी (सच्चे देव) का स्वरूप

णट्ठचदुघाइकम्मो, दंसणसुहणाणवीरियमइयो ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ ५०॥

नष्टचतुर्घातिकर्मा, दर्शन-सुख-ज्ञानमय ।
शुभदेहस्थ आत्मा, शुद्ध अर्हन् विचिन्तनीय ॥५०॥

अन्वयार्थ—(णट्ठचदुघाइकम्मो) चार घातिया कर्म के नाशक (दंसणसुहणाणवीरियमइओ) अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान

और अनन्तवीर्य का धारक (सुहदेहत्थो) परमौदारिक[illegible] [illegible] (सुद्धो) अष्टादशदोषरहित (अप्पा) आत्मा (अरिहो) [illegible] परमेष्ठी [अत्थि = है, सो = वह, अरिहंत परमेष्ठी] ([illegible]) ध्यान करने योग्य है ॥५०॥

भावार्थ—चार घातिया कर्मों का नाशक [illegible] चतुष्टय का धारक, सप्तधातुरहित, परमौदारिक [illegible] और अष्टादशदोषरहित आत्मा ([illegible]) [illegible] परमेष्ठी (सकल परमात्मा) कहलाता है। [illegible] करना चाहिये ॥५०॥

सिद्धपरमेष्ठी का [illegible]

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स [illegible] [illegible]।
पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह [illegible] ॥५१॥

नष्टाष्टकर्मदेहः, लोकालोक[illegible] [illegible] [illegible]।
पुरुषाकार आत्मा, सिद्ध [illegible] [illegible] ॥५१॥

अन्वयार्थ—(णट्ठट्ठकम्मदेहो) [illegible] (लोयालोयस्स) लोक और [illegible] [illegible] [य = और] (दट्ठा) देखने [illegible] [illegible] (लोयसिहरत्थो) लोक के [illegible] सिद्ध परमेष्ठी [अत्थि = है, [illegible] परमेष्ठी को [illegible]] तुम सब ध्याओ ॥५१॥

भावार्थ—[illegible] शरीर [illegible]
अलोक का ज्ञाता [illegible]
शरीर से कुछ [illegible]
स्थित आत्मा सिद्ध [illegible]
उस [illegible]

आचार्यपरमेष्ठी का स्वरूप

दंसणणाणपहाणे, वीरियचारित्त – वरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरियो मुणी झेओ ॥५२॥

दर्शनज्ञानप्रधाने, वीर्यचारित्रवरतप—आचारे ।
आत्मानं परं च युनक्ति, स आचार्यः मुनिः ध्येयः ॥५२॥

अन्वयार्थ—[जो = जो] (दंसणणाणपहाणे) दर्शनाचार और ज्ञानाचार हैं प्रधान जिनमें ऐसे (वीरियचारित्तवरतवायारे) वीर्याचार, चारित्राचार और उत्तमतपश्चरणाचार में (अप्पं अपने को (च) और (परं) दूसरे को जुंजइ) लगाता है (सो) वह (मुणी) मुनि (आइरियो) आचार्य परमेष्ठी [अत्थि = है, सो = वह आचार्य परमेष्ठी भी] (झेओ) ध्यान करने योग्य है ॥५२॥

भावार्थ—जो साधु दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तपश्चरण इन पांच आचारों को स्वयं पालते हैं तथा दूसरों से पालन कराते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। उनका भी ध्यान करना चाहिये ॥५२॥

उपाध्यायपरमेष्ठी का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवझाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

यः रत्नत्रययुक्तः, नित्यं धर्मोपदेशने निरतः ।
सः उपाध्यायः आत्मा, यतिवरवृषभः नमस्तस्मै ॥५३॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (रयणत्तयजुत्तो) रत्नत्रय सहित (य) और (णिच्चं) हमेशा (धम्मोवएसणे) धर्मोपदेश देने में (णिरदो) तल्लीन [होदि = होता है] (सो) वह (जदिवरवसहो) मुनीश्वरों में श्रेष्ठ (अप्पा) आत्मा (उवझाओ) उपाध्याय परमेष्ठी

[अत्थि = है, तस्स – उस उपाध्याय परमेष्ठी के लिये] (णमो) नमस्कार [अत्थि = हो] ॥५०॥

भावार्थ—जो रत्नत्रय का धारक, धर्मोपदेशक और मुनिव्रत का धारक होता है वह उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है। उसका भी ध्यान करना चाहिये ॥५३॥

साधुपरमेष्ठी (दिगम्बर जैन मुनि का लक्षण)

दंसणणाणसमग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं, साहू सो मुणी णमो तस्स ॥५४॥

दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यः हि चारित्रम्।
साधयति नित्यशुद्धं, साधुः स मुनिः नमस्तस्मै ॥५४॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (मुणी) मुनि (मोक्खस्स) मोक्ष के (मग्गं) मार्गस्वरूप (दंसणणाणसमग्गं) दर्शन और ज्ञान सहित (णिच्चसुद्धं) हमेशा शुद्ध (चारित्तं) चारित्र को (साधयदि) साधता है (सो) वह (साहू) साधु परमेष्ठी [अत्थि = है] (तस्स) उस साधु के लिये (णमो) नमस्कार [अत्थि = हो] ॥५४॥

भावार्थ—जो वीतराग मुनि मोक्ष के कारण निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) को धारण (साधन) करते हैं वे ही साधु परमेष्ठी कहते हैं। उनका भी ध्यान करो ॥५४॥

ध्याता, ध्येय और ध्यान (निश्चयध्यान) का स्पष्टीकरण

जं किंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं, तदा हु तं तस्स णिच्चयं झाणं ॥५५॥

अन्वयार्थ—(जदा) जब (साहू) साधु (एयत्तं) एकाग्रता को (लद्धूणय) प्राप्त होकर (जं किंचिवि) जो कुछ भी (

चिन्तवन करता हुआ (णिरीहवित्ती) इच्छारहित (हवे) होता है (तदा) उस समय (हु) ही (तस्स) उस साधु का (त) वह (णिच्छय) निश्चय (झाणं) ध्यान [होदि = होता है] ॥५५॥

भावार्थ—मन वचन और काय की क्रियाओं की एकाग्रतासहित अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहों से निस्पृह आत्मा (ध्याता) जब आत्मस्वरूप या अरिहन्त आदि (ध्येय) का तन्मयतापूर्वक चिन्तवन (ध्यान) करता है तब उसका वह ध्यान निश्चय ध्यान कहलाता है ॥५५॥

परमध्यान का लक्षण

मा चिट्ठह मा जपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

अन्वयार्थ—(किंवि) कुछ भी (मा चिट्ठह) चेष्टा मत करो (मा जपह) मत बोलो (मा चिंतह) मत विचारो (जेण) जिससे (अप्पा) आत्मा (अप्पम्मि) आत्मा में ही (रओ) लवलीन [होइ = होकर] (थिरो) स्थिर (होइ) होता है (इणमेव) यह ही (परं) उत्कृष्ट (झाणं) ध्यान (हवे) है ॥५६॥

भावार्थ—मन, वचन, काय की चेष्टा को रोक कर आत्मा को आत्मचिन्तवन में ही लगाना परम ध्यान कहलाता है। इसलिये इन तीनों की प्रवृत्ति को रोक कर आत्मा को आत्म स्वरूप में ही लीन करना चाहिये ॥५६॥

ध्यान का कारण या उपाय

तवसुदवदवं चेदा, झाणरह—धुरंधरो हवे जह्मा ।
तह्मा तत्तियणिरदा, तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

तपःश्रुतव्रतवान् चेता, ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात् ।
तस्मात् तत्त्रितयनिरताः, तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥५७॥

अन्वयार्थ—(जम्हा) जिस कारण से (तवसुदवदवं) तप, शास्त्र और व्रतों का धारक (चेदा) आत्मा (झाणरहधुरंधर) ध्यान रूपी रथ को ढोने वाला (हवे) होता है (तम्हा) इसलिये (तल्ल [illegible]) उस ध्यान की प्राप्ति के लिये (सदा) हमेशा (तत्तियणिरदा) उन तीनों में लीन (होह) होओ ॥५७॥

भावार्थ—तपश्चरण का धारक शास्त्रों का ज्ञानी और व्रतों को पालने वाला आत्मा ही उत्कृष्ट ध्यान कर सकता है। इसलिये उत्कृष्ट ध्यान की प्राप्ति के लिये कारणभूत तपश्चरण, श्रुतज्ञान और व्रतपालन में सदा लीन रहना चाहिये ॥५७॥

ग्रन्थकार का लघुताप्रकाशन

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण, णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

द्रव्यसंग्रहमिदं मुनिनाथाः, दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः ।
शोधयन्तु तनुश्रुतधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणितं यत् ॥५८॥

अन्वयार्थ—(तणुसुत्तधरेण) अल्पज्ञानी (णेमिचन्दमुणिणा) मुझ नेमिचन्द्र मुनि ने (जं) जो (इणं) यह (दव्वसंगहं) द्रव्य [illegible] (भणियं) कहा है [इसको] (दोससंचयचुदा) [illegible] संशयादि दोष रहित (सुदपुण्णा) वर्तमान परमागम [illegible] तथा भावश्रुत के ज्ञाता (मुणिणाहा) प्रधानमुनि (सोधयंतु) संशोधन करें ॥५८॥

भावार्थ—मुझ अल्पज्ञानी नेमिचन्द्र ने [illegible] बनाया है उसमें अनेक गलतियों के होने [illegible] है, इसलिये मेरे से प्रधान मुनि इसका संशोधन [illegible] [illegible] पर्यायों

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

विशेष विवरण ।



समुद्घात का लक्षण

मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादणामं च ॥

अन्वयार्थ— (मूलशरीर) मूल शरीर को (अछंडिय) नहीं छोड़कर (उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स) आत्मा के प्रदेश रूप उत्तरदेह का (देहादो) शरीर से (णिग्गमणं) बाहर निकालना (समुग्घादणामं) समुद्घात (होदि) कहलाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मूल शरीर को नहीं छोड़ कर वेदना आदि सात कारणों से आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकालना समुद्घात कहलाता है।

व्यवहारनय से जीव के प्राण

जीव	इन्द्रियां							काय	आयु	श्वास	संख्या
एकेन्द्रिय	स्पर्शन							,,	,,	,,	४
द्वीन्द्रिय	,	रसना					वचन	,,	,,	,,	६
त्रीन्द्रिय	,,	,,	घ्राण				,,	,,	,,	,,	७
चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,	चक्षु			,,	,,	,,	,,	८
पंचेन्द्रिय असैनी	,,	,,	,,		कर्ण		,,	,,	,,	,,	९
पंचेन्द्रिय सैनी	,,	,,	,,	,,	,,	मन	,,	,,	,,	,,	१०

समुद्घात के सात भेद

वयणकसायवेगुव्वियो, य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो, सत्तमओ केवलीणं तु ॥

भावार्थ—वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवलि ये ७ समुद्घात हैं ॥ ४ ॥

पर्याप्तक और अपर्याप्तक

जह पुण्णापुण्णाइं गिहघडवत्थादियाइं दव्वाइं ।
तह पुण्णियरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मकान, घड़ा और वस्त्र आदि द्रव्य पूरे और अधूरे होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं।

एक अन्तर्मुहूर्त में छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं। अपर्याप्तक के दो भेद हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक। लब्ध्यपर्याप्तक के पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होतीं। यह एक श्वास में १८ बार पैदा होता और १८ बार मरता है। [illegible]

पर्याप्तियों का विवरण

जीव	पर्याप्तियाँ	संख्या
एकेंद्रिय	आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास	[illegible]
विकलत्रय और असैनी पंचेंद्रिय	" " " " भाषा	[illegible]
सैनी पंचेंद्रिय	" " " " " मन	[illegible]

सिद्ध परमेष्ठी के आठ मूलगुण

सम्मत्तणाणदंसण वीरियसुहुमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥

भावार्थ—२—[illegible]
का दर्पण के समान [illegible]

२—यथार्थ तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान क्षायिकसम्यक्त्व गुण है। ३—लोकालोक के समस्त पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करने वाला केवलदर्शनगुण है।

४—अनन्त पदार्थों के जानने में खेद का अभाव रूप चतुर्थ अनन्तवीर्य गुण है।

५—सिद्धस्वरूप का सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयपना सूक्ष्मत्व गुण है। ६—जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों के प्रकाश का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार एक सिद्ध के स्थान में संकर तथा व्यतिकर दोषरहित अनन्त सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ्य छठवां अवगाहन गुण है।

७—लोहपिंड के समान गुरुपने का अभाव तथा आक की रुई के समान लघुपने का अभाव अगुरुलघुत्वगुण है।

८—दुःख का सर्वथा अभाव अव्याबाधत्व गुण है। सिद्ध के ये ८ विशेष गुण हैं।

कर्मों के नाश से प्राप्त गुण

सिद्धों में मोहनीय कर्म के अभाव से सम्यक्त्व, ज्ञानावरण कर्म के अभाव से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के कर्म के अभाव से अनन्त दर्शन, अन्तरायकर्म के अभाव से अनन्तवीर्य, नामकर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयुकर्म के अभाव से अवगाहनत्व, गोत्रकर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व और वेदनीयकर्म के अभाव से अव्याबाधत्व गुण प्रगट होते हैं। अर्थात् आठों कर्मों का नाश होने पर सिद्धों के ये आठ गुण प्राप्त होते हैं।

ऊर्ध्वगमन का कारण

पयडिट्ठिदिअणुभाग–प्पदेशबंधेहि सव्वदो मुक्को ।
उड्ढं गच्छदि सेसा, विदिसावं गदि जंति ॥

अन्वयार्थ—(पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं) प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध से (सव्वदो) सब प्रकार से (मुक्को) छूटा हुआ जीव (उड्ढं) ऊपर (गच्छदि) जाता है [दु = और] (सेसा) शेष जीव (विदिसावज्जं) विदिशाओं को छोड़कर (गदिं) दिशाओं को (जंति = जाते हैं)।

भावार्थ—प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध इन ४ बन्धों से छूटा हुआ मुक्तजीव स्वभाव से ऊपर को ही जाता है। किन्तु कर्मबन्धसहित संसारी जीव विदिशाओं को छोड़कर आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार दिशाओं को ही जाता है।

परमाणु में रूपादि की सिद्धि

जैसे शुद्ध सिद्ध जीव में अनन्तचतुष्टय अतीन्द्रिय है उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु में रूपादिचतुष्टय भी अतीन्द्रिय है। जैसे रागादि से कर्मबन्धावस्था में ज्ञानादि अशुद्ध रहते हैं उसी प्रकार स्निग्ध रूक्षत्व गुण से द्व्यणुक आदि बन्धावस्था में परमाणु में रूपादि भी अशुद्ध रहते हैं। इससे परमाणु भी मूर्तिक है।

पैंतीस अक्षरों का मन्त्र

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ (सर्वपद)

१६ सोलह अक्षरों का मंत्र—अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय, साहू। ६ छह अक्षरों का मन्त्र—अरिहंत सिद्ध/ अरहंत सि सा, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, अथवा—नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः (नामपद)।

५ पांच अक्षरों के मंत्र—अ सि आ उ सा। (आदिपद) ४ चार अक्षरों के मन्त्र—असिसाहू अरिहंत। २ दो अक्षरों के मंत्र—सिद्ध ॐ ह्रीं। १ एक अक्षर का मन्त्र—आ, ओम्, ओं, इत्यादि।

मनःपर्यय—द्रव्य क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा दूसरे के मन में स्थित सरल और गूढ़ रूपी पदार्थ को जानने वाला ज्ञान।

केवलज्ञान—त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को दर्पण के समान स्पष्ट ज्ञाता ज्ञान।

मत्यज्ञान—इन्द्रियों और मन की सहायता से वस्तु को जानने वाला ज्ञान।

श्रुताज्ञान—मत्यज्ञान के द्वारा जाने हुये पदार्थ के विशेष को जानने वाला मिथ्याज्ञान।

विभङ्गज्ञान—द्रव्य क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा रूपी पदार्थों का ज्ञाता मिथ्याज्ञान। इसे कुअवधि भी कहते हैं।

समुद्घातों के लक्षण

वेदना—तीव्र वेदना के समय मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

कषाय—तीव्र क्रोधादि कषाय के उदय से पर का घात करने के लिये मूल शरीर को न छोड़कर जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

वैक्रियिक—किसी प्रकार का शारीरिक विकार (अनेकरूप या वृद्धि) करने के लिये मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

मारणान्तिक—शरीर में रहते हुये ही आगामी जन्मस्थान का स्पर्श करने के लिए जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना।

५ तैजस—संसार को रोग या दुर्भिक्ष आदि से दुखी देखकर संयमी महामुनि के दया उत्पन्न होने पर उन की तपस्या के प्रभाव से मूल शरीर को न छोड़कर उनके दाहिने कंधे से पुरुष के आकार का सफेद पुतला निकल कर दक्षिण प्रदक्षिणा देकर उस रोगादि को

दूर कर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जाता है वह शुभ तैजस कहलाता है। अनिष्टकारक कारण देख कर संयमी महामुनि के मन में क्रोध होने पर उनके बांये कन्धे से पुरुषाकार और सिंदूर के रंग का पुतला निकल कर जिस पर क्रोध हो उस और [illegible] दिशा को भस्म कर उस मुनि को भी भस्म कर देता है वह अशुभ तैजस कहलाता है।

आहारक—छट्ठे गुणस्थान के किसी ऋद्धिधारी मुनि के संदेह से मूल शरीर को न छोड़कर मस्तक से एक हाथ का पुरुषाकार सफेद रंग के समान पुतला निकल कर [illegible] अपने स्थान में प्रवेश करता है उसे आहारकसमुद्घात कहते हैं।

७ केवलि—केवलज्ञान के होने पर मूल शरीर को न छोड़कर दण्ड कपाट लोकपूरण क्रिया द्वारा आत्मा के प्रदेशों का फैलना।

गुणस्थानों के लक्षण

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व के उदय से [illegible] यथार्थ श्रद्धान रहित परिणाम।

सासादन—अनन्तानुबंधी के किसी एक के उदय से उपशम सम्यक्त्व से छूट किन्तु मध्यवर्ती [illegible]।

मिश्र—सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से हुए दही और गुड़ के स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए परिणाम।

अविरतसम्यक्त्व—सम्यक्त्व सहित व्रत रहित परिणाम।

देशविरत—सम्यक्त्व और एकदेश व्रत सहित परिणाम।

प्रमत्तसंयत—महाव्रत [illegible] आदि [illegible] अन्यक प्रमाद सहित परिणाम।

अप्रमत्तसंयत—प्रमाद रहित

अपूर्वकरण—उत्तरोत्तर विशुद्ध अपूर्व परिणाम।

अनिवृत्तिकरण—एक समय में सदृश परिणाम।

सूक्ष्मसाम्पराय—शेष कषायों के पूर्ण उपशम या क्षयसहित और सूक्ष्म लोभकषाय के उदय सहित परिणाम।

उपशान्तकषाय—कषायों के पूर्ण उपशम सहित परिणाम।

क्षीणकषाय—कषायों के सर्वथा क्षयसहित परिणाम।

सयोगकेवली—योग की प्रवृत्तिसहित केवलज्ञानरूप परिणाम।

अयोगकेवली—योग की प्रवृत्तिरहित केवलज्ञानरूप परिणाम या भाव।

आठ कर्मों के लक्षण

ज्ञानावरण—जिस कर्म के उदय से जीव के ज्ञान होने में प्रतिबन्ध होता है वह कर्म।

दर्शनावरण—जिस कर्म के उदय से आत्मा के दर्शन गुण में प्रतिबन्ध होता है वह कर्म।

वेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव के सुख और दुख का अनुभव होता है।

मोहनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा के श्रद्धान (विश्वास) व चारित्र गुण का घात होता है।

आयु—जो कर्म जीव को नरक आदि गति (पर्याय या भव) में रोकता है।

नाम—जिस कर्म के उदय से शरीर और अङ्गोपाङ्ग आदि की रचना होती है।

[गोत्र—]जिसके कारण जीव लोकमान्य और लोकनिंद्य कुल में

अन्तराय—जिसके उदय से दानादि में अन्तराय (विघ्न) होता है, वह कर्म।

चार बन्धों के लक्षण

प्रकृतिबन्ध—कर्म परमाणुओं का ज्ञानावरणादि शक्तिसहित हो जाना।

स्थितिबन्ध—जैसे दूध में मिठास रहने की मर्यादा होती है उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में जितने समय तक कर्मसम्बन्ध से स्थिति होती है उतना समय।

अनुभागबन्ध—जैसे बकरी आदि के दूध में मधुरता (मिठास) की तारतम्यता (हीनाधिकता) होती है उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में स्थित कर्मों की हीनाधिक फल देने में समर्थ शक्तिविशेष।

प्रदेशबन्ध—एक आत्मा में सिद्धों से अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्त गुणे कर्मपरमाणु प्रतिसमय बन्ध को प्राप्त होते हैं उनकी संख्या।

अजीव—चेतना (दर्शन ज्ञान) शक्ति रहित वस्तु।

अधिकार—किसी वस्तु की व्यवस्था या वर्णन करने का तरीका। अथवा प्रकरण, परिच्छेद या अध्याय।

अनध्यवसाय—'कुछ है' इस प्रकार निश्चयरहित ज्ञान।

अनन्तचतुष्टय—जिनका कभी अन्त या नाश नहीं होता ऐसे ज्ञानादि ४ गुण।

अनिन्द्रियार्थ—मन और इन्द्रियों को अप्रत्यक्ष करने वाला पदार्थ।

अनुप्रेक्षा—संसार, शरीर और भोग आदि के स्वरूप का बार बार विचार करना [illegible]

अपर्याप्तक—जिसके [illegible] पर्याप्ति पूर्ण नहीं [illegible]

अमूर्तिक—[illegible]

अव्रत—पाँचों पापों तथा इन्द्रियों और मन के विषय में प्रवृत्ति ।

अशुभकर्म—पापबन्ध करानेवाले दुःखदायक कर्म ।

अशुभक्रिया—वचन और काय की अशुभप्रवृत्ति अशुभबाह्य क्रिया । तथा मन में कुविचार होना अशुभ आभ्यन्तर क्रिया है

अस्ति— पदार्थ की विद्यमानता ।

अस्तिकाय—बहुप्रदेशी द्रव्य ।

असंज्ञी—मनरहित जीव ।

इन्द्र—सामान्य देवों से विशेष अणिमा आदि गुणों से परमैश्वर्य को प्राप्त राजा के समान देव ।

इन्द्रिय—संसारी जीव की पहिचान का चिह्न ।

इष्ट—मन और इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला पदार्थ ।

आचार—सम्यग्दर्शन आदि पाँच आचारों का पालन ।

आत्मा—ज्ञान दर्शन की शक्ति सहित पदार्थ ।

आयु—जीव को नरक आदि गतियों में रोकने वाला कर्म ।

उत्पाद—नवीन पर्याय (हालत अवस्था) की उत्पत्ति ।

उपयोग—जीव का दर्शन ज्ञान या देखने जानने की शक्ति ।

कर्म—रागादि के निमित्त से कार्मणवर्गणारूप पुद्गल स्कन्धों का आत्मा से संबंध होना ।

कल्पवासी—सोलह स्वर्गों के देव ।

कषाय—आत्मा का क्रोधादिरूप भाव (परिणाम) ।

काय—बहुप्रदेशी या शरीर ।

कालद्रव्य—जो स्वयं परिणमता है तथा अन्य द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होता है या घड़ी घण्टा आदि ।

केवली—त्रिकालवर्ती पदार्थों की सभी पर्यायों को एक साथ जानने वाला व्यक्ति ।

गन्ध—नासिका का विषय ।

गुणस्थान—जीव के उत्तरोत्तर विशुद्ध और उन्नत भाव ।

घातिया—आत्मा के ज्ञानादि भावस्वरूप गुणों का घातक ।

चेतना—दर्शन ज्ञान शक्ति ।

चैतन्यभाव-ज्ञान दर्शन उपयोग ।

छद्मस्थ—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान का धारक प्राणी।

जीव—चेतनासहित वस्तु।

जीवसमास—जिसमें अनेक प्रकार के जीवों का संक्षेप रूप से संग्रह किया जाता है।

ज्ञानोपयोग—पदार्थों का विशेष स्वरूप और आकार सहित विशेष रूप से ज्ञान।

तीर्थंकर—कल्याणकों से पूज्य धर्मरूपी तीर्थ का चलाने वाला प्रथम परमेष्ठी।

त्रस—त्रसनामकर्म का उदय प्राप्त दो इन्द्रिय आदिक जीव।

दुर्मिनियश—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय।

देव—आठ ऋद्धियों से निरन्तर विविध प्रवृत्ति करने वाले अथवा सुन्दर शरीर के धारक देवगति के जीव।

दशप्रत्यय—[illegible]

द्रव्य—गुण और [illegible]

द्रव्यप्राण—संसारी जीव में जीवित पने के व्यवहार में कारण हैं द्रव्य आदि।

द्रव्यश्रुत—द्वादशाङ्ग।

ध्याता—ध्यान करने वाला।

ध्यान—समस्त चिन्ताओं का [illegible] कर अपने मन को [illegible]

[illegible]

मोक्ष—[illegible]

निश्चय—[illegible]

[illegible]

परीषह—निर्जरा और रत्नत्रय की स्थिरता के लिये शारीरिक तथा मानसिक दुःखों का समतापूर्वक सहन।

पाप–हिंसा आदि लोकनिन्द्य कार्य।

परोक्ष—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला स्पष्टतारहित ज्ञान।

पर्याप्तक– जिसके शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है वह जीव।

पर्याप्ति—पुद्गल परमाणुओं की शरीर और इन्द्रिय आदि रूप परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता।

पुद्गल—जो पूरता और गलता है अथवा जिसके परमाणु मिलते और बिखरते हैं। या जिसमें रूपादि होते हैं वह।

पुण्य—सच्चे देव द्वारा कथित धार्मिक कार्यों का फल।

प्रत्यक्ष—इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना केवल आत्मा की सहायता से होने वाला ज्ञान।

प्रमाद—संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से अतिचाररहित चारित्रपालन में उत्साह न होना तथा स्वरूप की सावधानी न होना।

प्राण—जिनके कारण चेतना या जीवितपन का बोध होता है।

बन्ध—राग और द्वेष आदि भावों के कारण आत्मा और कर्मों का परस्पर एक क्षेत्रावगाही हो जाना (मिल जाना)

बल—विचारने बोलने और शरीर धारण करनेकी शक्ति।

बादर—बादर नामकर्म का उदय होने पर जो दूसरे पदार्थों से स्वयं रुकता है अथवा दूसरों को रोकता है।

भावप्राण—देखने और जानने की शक्ति या ज्ञान दर्शन।

भावश्रुत—शुद्ध आत्मा के सन्मुख होने से ज्ञानस्वरूप आत्मा के आकार से सविकल्प होने पर भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षप्रमाणरूप आत्मज्ञान अथवा परमागम रूप द्रव्यश्रुत से उत्पन्न निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान।

मार्गणा—जिनसे या जिनमें जीवों

का आवरण (तलाब) या विभाग किया जाता है।

मिथ्यात्व—यथार्थ तत्त्वों का मिथ्या श्रद्धान।

मुनिधर्म—५ महाव्रत ५ समिति और ३ गुप्ति का पालन।

मोक्ष—कर्मबन्ध के कारणों का अभाव और निर्जरा के द्वारा आत्मा से सब कर्मों का क्षय हो जाना, झड़ जाना।

योग—मन वचन काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन योग कहलाता है। अर्थात् त्रियोग की हलन चलन क्रिया द्रव्ययोग और आत्मप्रदेशों की हलन चलन क्रिया भावयोग है।

राग—जिसके उदय से विषयों में अनुराग होता है।

रस—रसना इन्द्रिय का विषय।

रूप—नेत्र इन्द्रिय का विषय।

लोक—जहां पुण्य या पाप का फल या जीवादिक द्रव्य देखे जाते हैं वह स्थान।

वायुकायिक—वायु ही जिसका शरीर होता है जैसे हवा।

विपर्यय—उल्टा ज्ञान। जैसे सीप को चांदी जानना।

विशेष—जो धर्म या गुण खास खास वस्तुओं में रहता है।

व्यय—पहिली पर्याय का नाश।

व्यवहार नय—दूसरे पदार्थ के संयोग से भिन्न अवस्था बतलाने वाला ज्ञान। जैसे मिट्टी के घड़े में दूध रखा जाने पर उसे दूध का घड़ा कहना।

व्रत—पांचों पापों या [illegible] के संकल्पपूर्वक विरक्त होना।

व्यसन—खोटी [illegible] वस्तु पर [illegible]।

शरीर—[illegible] रिक [illegible] है।

शुभकर्म—[illegible]

शुभक्रिया—[illegible] की [illegible] फिर [illegible] है।

सकलप्रत्यक्ष—त्रिकाल—वर्ती समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को एक साथ ज्ञाता ज्ञान।

समिति—अपने द्वारा किसी जीव को पीड़ा न हो इस विचार से प्रवृत्ति में यत्नाचार।

सामान्य—अनेक पदार्थों में समानता से व्यापक धर्म।

सूक्ष्म—सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जो न तो और पदार्थों को रोकता है न और से स्वयं रुकता है ऐसा जीव।

संशय—दुतरफा ढलता हुआ निश्चय रहित ज्ञान। जैसे यह सीप है या चांदी? सुवर्ण है या पीतल?

संसार—जन्म, मरण, योग और वियोग आदि की प्राप्ति योग्य प्रदेश।

संसारी—नरक आदि गतियों में भ्रमण करने वाला जीव।

स्कन्ध—मिले हुये दो आदि परमाणुओं का समूह।

स्थावर—स्थावर नामकर्म के उदय सहित एकेन्द्रिय जीव।

स्वासोच्छ्वास—पेट से बाहर और भीतर आने जाने वाली वायु।

* भेद संग्रह *

मार्गणा के चौदह भेद

गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भविया सम्मत्त सण्णिआहारे॥

भावार्थ—१ गति (चार), २ इन्द्रिय (पाँच), ३ काय (छह), ४ योग (तीन), ५ वेद (तीन), ६ कषाय (पच्चीस), ७ ज्ञान (आठ) ८ संयम (पाच तथा असंयम व संयमासंयम), ९ दर्शन (चार), १० लेश्या (छह), ११ भव्यत्व (दो), १२ सम्यक्त्व (छह), १३ संज्ञित्व (दो) और १४ आहार (दो) ये १४ मार्गणाएँ हैं ॥६॥

गुणस्थान के चौदह भेद

मिच्छो सासण मिस्सा, अविरदसम्मा य देसविरदा य ।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्ट सुहमो य ॥
उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस गुणट्ठाणाणि, कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥

भावार्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये १४ गुणस्थान हैं ॥

विकथा के भेद

विकहा तहा कसाया, इन्द्रियणिद्दा तहेव पणओ य ।
चदु चदु पणमेगेगं, होंति पमादा हु पण्णरसा ॥

भावार्थ—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय निद्रा और १ प्रणय (४+४+५+१+१=१५) इस प्रकार प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं ॥११॥

अनुप्रेक्षा—अनित्य, अशरण संसार एकत्व अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर निर्जरा लोक धर्म और बोधि दुर्लभ ये १२ अनुप्रेक्षा हैं ।

अविरति—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ५ ।

एकेन्द्रिय—बादर व सूक्ष्म २ या पृथ्वीकायिक आदि ५ ।

गुप्ति—मन, वचन, काय ।

चारित्र—सामायिक, छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ।

तप—अनशन ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ।

द्रव्यप्राण—५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास १० ।

द्रव्यास्रव—ज्ञानावरणादिक ८, उत्तरप्रकृतिरूप १४८ तथा और भी अनेक भेद हैं ।

धर्म- उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव सत्य शौच, संयम, तप त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ।

नय--निश्चय और व्यवहार २ अथवा नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवंभूत ७ ।

निष्क्रिय द्रव्य--धर्म अधर्म, आकाश और काल ४ ।

पदार्थ--तत्त्व ७ और पुण्य १, तथा पाप १ कुल ६ ।

परीषह--क्षुधा तृषा शीत उष्ण दंशमशक नाग्न्य, अरति, स्त्री चर्या निषद्या, शय्या आक्रोश, वध याचना अलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन २२ ।

पाप--द्रव्य और भाव २ ।

पुण्य--द्रव्य और भाव २ ।

प्रदेश--संख्यात, असंख्यात और अनन्त ३ ।

प्राण--द्रव्य और भाव २ ।

भावप्राण--ज्ञान और दर्शन ।

मिथ्यात्व- विपरीत एकान्त, विनय संशय और अज्ञान ५ ।

विकथा--स्त्रीकथा भोजनकथा, राजकथा और राष्ट्रकथा ।

विदिशा--ईशान, वायव्य नैऋत्य, आग्नेय, ऊर्ध्व और अध [illegible] ।

व्रत--अणुव्रत ५, गुणव्रत ३ और शिक्षाव्रत ४=१२ ।

समिति--ईर्या भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना ५ ।

स्थावर--पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ५ । अथवा बादर और सूक्ष्म २ ।



❁ प्रश्नपत्र, सन् १९६१ ❁



१—अमूर्तिक स्वदेहपरिमाणस्य धर्मद्रव्य निश्चयकाल, [illegible], भावबन्ध सम्यग्ज्ञान निश्चयसम्यक्चारित्र, ज्ञानोपयोग सिद्ध [illegible] परमध्यान का लक्षण सप्रमाण लिखिये।

२—नौ अधिकार पर्याप्तियाँ अतिचार [illegible] [illegible] तीर्थंकर, पुण्य प्रकृतियाँ और अन्तरङ्ग परिग्रह के भेद, लिखिये। १५

३—समस्त द्रव्यों के प्रदेश बताइये। [illegible] और [illegible] से आप क्या समझते हैं? ओम् मंत्र की सिद्धि [illegible] [illegible] और ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दर्शाइये। १०

४—ग्रन्थकार की जीवनी लिखकर [illegible] [illegible] का कारण लिखिये। १०

५—धर्म का धर्मद्रव्य में, अतिचार [illegible] [illegible], [illegible] या बन्ध में भावबन्ध या द्रव्यबन्ध में [illegible] [illegible] में निश्चय या मोक्ष में सम्यग्दर्शन या दर्शन[illegible] [illegible] अरिहन्त या सिद्ध में अन्तर दर्शाइये। १०

६—कालद्रव्य के अस्तिकाय न होने [illegible] [illegible] इन्द्रिय जीव के प्रदेश – प्राण-पर्याप्तियाँ [illegible] [illegible]। [illegible] के छोटे और बड़े होने का कारण लिखिये। १०

७—षड्द्रव्य, नवपदार्थ, गुणस्थान, [illegible], नयाधिकार, पञ्चपरमेष्ठी में से किसी एक [illegible] लिखिये।



* प्रश्नपत्र, सन् १९६१ *



१—जीवत्व, भोक्तृत्व, ऊर्ध्वगमनत्व, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, अस्तिकाय, द्रव्यास्रव, निश्चयमोक्षमार्ग, दर्शनोपयोग, व्यवहार सम्यक्चारित्र और अरिहन्त का लक्षण लिखिए। १६

२—अधर्म या अधर्मद्रव्य में, ज्ञानोपयोग या सम्यग्ज्ञान में, द्रव्यबन्ध या द्रव्यास्रव में, अनध्यवसाय या दर्शनोपयोग में, ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग में, निश्चय या व्यवहार में, तथा भावमोक्ष या द्रव्यमोक्ष में अन्तर दर्शाइए। १०

३—इन्द्रिय, प्राण, जीवसमास, पुद्गल की पर्याय, भावास्रव, प्रमाद, गुणस्थान, समुद्घात और बहिरङ्ग परिग्रह के भेद गिनाइए। ११

४—समुद्घात, जीवसमास, गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण, अणु, मूर्तिक से आप क्या समझते हैं। १०

५—पञ्चास्तिकाय, सिद्धगुण, सप्ततत्त्व, परमेष्ठी, मोक्षमार्ग में से किसी एक विषय पर दो पृष्ठों में निबन्ध लिखिये। १२

६—स्वदेहपरिमाणत्व, परमाणु के अस्तिकायत्व, कालद्रव्य के अस्तिकायत्व का निषेध, खाली घड़े में रहने वाली द्रव्यें, त्याज्य और ग्राह्य तत्त्व, छह और सोलह अक्षरों के मंत्र और ध्यान से लाभ बतलाइए। १०

७—आत्मा को ही निश्चयमोक्षमार्ग मानने, मुक्त जीव के सिद्धशिला से आगे न जाने और संसार में न आने का कारण बतलाइए। १२

